

150

150

हरिहरभास्कर

Harishar Bhardwaj
10, ...
...
...
...
...
...

भारत का विधि आयोग

सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 का अधिनियम 5 में कुछ संशोधनों के बारे में

एक सौ पचास वीं रिपोर्ट

1994

PAPERS LAID ON THE TABLE
OF THE RAJYA SABHA
ON 23 MAR 1994

349.5BR
NH-145
NH-150-4

विषयकस्तु

	<u>पृष्ठ</u>
अध्याय - 1:- सामान्य भूमिका	1-4
अध्याय - 2:- रिपोर्ट की पृष्ठभूमि	5
अध्याय - 3:- आदेश 1, नियम 10 §5§	6-11
अध्याय - 4:- आदेश 22, नियम §3§	12-14
अध्याय - 5:- सिफरिशें	14
<u>पाद टिप्पण</u>	15

PARLIAMENT LIBRARY
CENTRE FOR PUBLIC AFFAIRS
INDIA HOUSE, ANAND VIHAR
NEW DELHI 110029
91611(5)
24/3/95

349.542

N4-150;4

श्री के.एन.सिंह

भारत के मृतपूर्व मुख्य न्यायाधीश

अध्यक्ष, विधि आयोग,
भारत सरकार, शास्त्री भवन,
नई दिल्ली - 110 001.
फोन: कार्यालय 384475
निवास 3019465

मई 10, 1994

अर्ध स० संख्यांक 6 §3§ §27§/94 वि० आ० §एल-एस-§

प्रिय प्रधानमंत्री जी,

"सिविल प्रॉक्रिया सोहता §1908 का अधिनियम संख्यांक 5§ में कुछ संशोधनों का सुझाव" विषय पर भारत के विधि आयोग की 150 वीं रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुये मुझे अन्याय दर्ज है। 13 वीं विधि आयोग गठित होने के पश्चान् यह 7 वीं रिपोर्ट है।

यह विषय विधि आयोग द्वारा स्वतः इस दृष्टि से उठाया गया कि सिविल प्रॉक्रिया सोहता, 1908 की असंगतियों को दूर किया जाए। यह उल्लेख करना उचित होगा कि सिविल प्रॉक्रिया सोहता के आदेश 1 के नियम 10§5§ के उपबंध असामापूर्ण हैं और उनका दुरुपयोग कार्यवाहियों में विलंब के लिए किया जा सकता है क्योंकि यह दुर्भावनापूर्ण पर-पक्षकारों को उन पर समनों की तालीम से बचने के लिए अनेक तरीके अपनाने में तब तक समर्थ बनाते हैं जब तक कि पौरसीमा काल पर्यवसित नहीं हो जाता। आयोग की राय है कि इस रिपोर्ट में जिन विसंगतियों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है उन्हें जारी नहीं रहने दिया जाना चाहिए।

आयोग को विश्वास है कि ये सिफारिशें न्याय के त्वरित और प्रभावपूर्ण प्रशासन के दृष्टि में काफी प्रभावशाली होंगी।

सादर,

भवदीय,

! के.एन.सिंह §

माननीय श्री पी.वी. नरसिंह राव,
प्रधानमंत्री तथा विधि, न्याय और कंपनीकार्य मंत्री,
नई दिल्ली
मंगल: उपरोक्त।

अध्याय - 1

सामान्य भूमिका

1.1 1908 की सीहता

सिविल न्यायालयों में वार्दों और अन्य कार्रवाईयों में अपनाई जाने वाली प्रकिया से संबंधित विधि इस शतहृदी के प्रारंभिक वर्षों में सिविल प्रकिया सीहता 1908 का अधिनियम 5 द्वारा सीहताबद्ध की गई थी। प्रकिया के इन नियमों की पर्याप्त, देश की स्वतंत्रता और भारत के सीवधान के 1950 में लागू होने के परिणामस्वरूप प्रारंभ हुई नई व्यवस्था के साथ अनुरूपता और इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर, कि सीहता किस सीमा तक समय की कसौटी पर तथा सामाजिक, राजनीतिक और विधिक वातावरण के परिणामस्वरूप देश में मुकदमेवर्ती के विशिष्ट भार को वहन करने में समर्थ है, विधि आयोग की अनेक रिपोर्टों में विस्तृत रूप से विचार किया गया है।

1.2 14 वीं रिपोर्ट

सीवधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् नियुक्त किए गए प्रथम विधि आयोग (1951-52) ने अपना ध्यान ऐसे कुछ महत्वपूर्ण अधिनियमों और कानूनी विषयों पर किया था जिनमें सुधार की अत्यंत आवश्यकता थी। विधि आयोग ने 16.9.58 को प्रस्तुत अपनी चौदहवीं रिपोर्ट में भारत में नये प्रशासन के समक्ष उपस्थित बड़ी समस्याओं पर विचार किया था और उनमें सुधार के लिए महत्वपूर्ण सिफारिशों की थी। न्यायालयों की, जिनके अन्तर्गत सिविल न्यायालय भी हैं, प्रकिया में सुधार के विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं पर इस रिपोर्ट में चर्चा की गई थी।

1.3 27 वीं रिपोर्ट

विधि आयोग की दिसम्बर 1964 की 27 वीं रिपोर्ट में 1908 की सीहता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा स्कीम की विस्तृत परीक्षा की गई थी। आयोग का मोटे तौर पर यह मत था कि सीहता सुविचारित रूप से रची गई थी पर सीहता के जीवनकाल में आधी शतहृदी के दौरान जो निर्णयज विधि एकत्र हुई थी उसका तथा साथ ही अन्य देशों में विशेष रूप से इंग्लैंड में 1962 में किए गए सुधारों का पुनरीक्षण करने के पश्चात् आयोग को यह प्रतीत हुआ कि सीहता के कुछ उपबंधों में कौतपय परिवर्तन करने की आवश्यकता थी और तदनानुसार उसमें संशोधनों की सिफारिश की गई। विधि आयोग की रिपोर्टों को क्रियान्वित करने के लिए संसद में एक विधेयक भी सम्यक रूप से पेश किया गया था किन्तु वह विधेयक व्यपगत हो गया।

1.4. 54 वीं रिपोर्ट :

जब विधेयक को पुनः पेश करने का प्रश्न उठा तो भारत सरकार ने यह उचित समझा कि सौहता पर नये सिरे से विचार करने लिए विधि आयोग से निवेदन किया जाए। यह 1972 की बात है। इस प्रकार आयोग की 54 वीं रिपोर्ट में, जो फरवरी 1973 में दी गई, विभिन्न प्रश्नों पर उनके सभी पक्षों और परिणामों को ध्यान में रखकर परीक्षा की गई और न्याय प्रशासन के त्वरित और प्रभावपूर्ण हित को अच्छी प्रकार से पूरा करने के लिए प्रकिया संबंधी विधि का पूर्ण रूप से सौहतावद् करने का सुझाव दिया गया। इस रिपोर्ट में सौहता की परीक्षा

§क§ खर्चों को कम करने,

§ख§ मुकदमेबाजी में विलम्ब को दूर करने,

§ग§ आयोग को निदेश की शर्तों का पुनरीक्षण करने, जिनमें से सबसे महत्वपूर्ण शर्त सौहता के मार्गनिदेशक सिद्धांतों का क्रियान्वयन था,

की दृष्टि से परीक्षा की गई। तथापि, आयोग ने पुनः उन विषयों पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा जिन पर पूर्वोक्त रिपोर्टों में चर्चा की गई थी, सिवाय वहाँ जहाँ आयोग अपनी सिफारिशों से असहमत था अथवा जहाँ उसने किन्हीं विशेष सिफारिशों की पुनः चर्चा करना और उन पर बल देना आवश्यक समझा था। सौहता के लगभग प्रत्येक उपक्रम और लगभग प्रत्येक सामान्य पहलू पर भलीभाँति विचार किया गया, जिन पर विचार करने का आवश्यकता थी, और एक तत्त्वपूर्ण रिपोर्ट, जो 347 मुद्रित पृष्ठों में थी, फरवरी 1973 में सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गई।

1.5. 55 वीं और 56 वीं रिपोर्टें :

54 वीं रिपोर्ट की प्रातिपूर्ति छोड़े दिन के पश्चात् ही आयोग की अगली दो रिपोर्टें दारा, जो कांतपय स्वतंत्र विषयों पर थी, की गई। 54 वीं रिपोर्ट (4-5-73) में डाँकियों पर व्याज की दर तथा 1908 की सौहता की धारा 34 और 55 के अन्तर्गत खर्चों के विषय पर चर्चा की गई थी। 55 वीं रिपोर्ट (जो 4-5-73 को प्रस्तुत की गई थी)

कुछ कानूनी उपबंधों के अन्तर्गत वाध्यकर रूप से अपेक्षित जाद का भुगतान जारी करने के विषय में थी।

1.6 सिविल प्रकिया सौहता संशोधन अधिनियम, 1976 :

यह अत्यंत संतोष की बात है कि सिविल प्रकिया सौहता के बारे में विधि आयोग द्वारा की गई सिफारिशों तात्काल रूप से स्वीकार की गई और सौहता में 1976 के संशोधन के द्वारा प्रकिया सौहता की गई।

1.7 आगे का इतिहास--

1976 में सौहता में बड़े पैमाने पर संशोधन करने के पश्चात् लगभग 20 वर्ष बीत चुके हैं। सिविल न्यायालयों में मुकदमों की संख्या, विलंब और खर्च के परिणाम और मुकदमेबाजी से उत्पन्न अन्य कठिनाइयाँ इस अवधि में अत्यधिक बढ़ी हैं। यद्य-कदा भयावह ऐसा मत भी व्यक्त किया जाता है कि सौहता का विद्यमान एंगलो-सैक्रान स्वरूप जिसमें प्रक्रिया की विषम प्रणाली सम्मिलित है, इन कठिनाइयों को देखते हुए जारी नहीं रह सकती, और शीघ्र ही निश्चित रूप से ढह जाएगी। तथापि सामान्यतया यह अनुभव किया गया है कि यदि वर्तमान प्रणाली जारी भी रहती है तब भी प्रक्रिया संबंधी सौहता में कुछ गहन सुधार आवश्यक हैं यदि वह मुकदमा करने वालों की आवश्यकताओं को संतोषप्रद रूप से पूरा करना चाहती है और न्याय की शक्तिपूर्ण और त्वरित प्रणाली की व्यवस्था करना चाहती है। इस प्रयोजन के लिए आवश्यक सुधारों का सुझाव देने का कार्य बहुत बड़ा है। इसके लिए, जैसी कि 54 वीं रिपोर्ट में सिफारिश की गई है, सबसे पहले जनसाधारण और विशेषज्ञों की राय उन विभिन्न कदमों के बारे में प्राप्त करना आवश्यक है जो इस क्षेत्र में तात्कालिक परिवर्तन करने के लिए आवश्यक हैं। निःसंदेह इस कार्य को विधि आयोग को ही शीघ्र करना होगा। यह कार्य आयोग वाद में भी कर सकता है किन्तु इस समय यह छोटा ही रिपोर्ट सिविल प्रक्रिया संशोधन के आदेश, 1 नियम 10 और, आदेश, 22 नियम 13 के संशोधन की तुरंत आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रस्तुत की जा रही है।

1.8 अंतरिम संशोधनों की आवश्यकता--

सौहता में पूर्ण रूप से सुधार करने के लिए उसकी विस्तृत रूप से परीक्षा करने का संभावना के कारण, हम समझते हैं कि विद्यमान ढांचे में स्पष्ट रूप से आवश्यक परिवर्तन की प्रक्रिया को रोकना नहीं जाना चाहिए। जो स्थिति है उसमें एक समोक्त सौहता तैयार करने का कार्य इस अधिनियम में पाई जाने वाली सभी त्रुटियों का एकमात्र उपचार नहीं हो सकता। किसी विद्यमान कानून में समय-समय पर सम्पूर्ण परिवर्तन करने का विचार करने की प्रक्रिया के साथसाथ यह विचार करना भी आवश्यक है कि समय-समय पर जो विसंगतियाँ और त्रुटियाँ सामने आईं उन्हें ठीक किया जाए। इस प्रकार आयोग को, सौहता की पूरी 54 वीं रिपोर्ट प्रस्तुत करने के पश्चात् शीघ्र ही यह लगा कि दो छोटे विषयों के बारे में छोटी रिपोर्टें (55 वीं और 56 वीं रिपोर्टें) प्रस्तुत करना आवश्यक है नकि संबन्धित विषयों के बारे में कुछ परिवर्तनों का सुझाव दिया जा सके। पुनः, हाल ही में, 1991 में, आयोग को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि सिविल प्रक्रिया के आदेश 5, नियम 19 §क और आदेश 21, नियम 92 §2 में अपनी रिपोर्टों में 139 वीं और 140 वीं रिपोर्टों में संशोधनों की सिफारिशें की जाए। पुनः, 1992 में, आयोग की 144 वीं रिपोर्ट में सौहता के अनेक उपबंधों में, इन उपबंधों की वास्तव न्यायालयों की रायों में असंगतियों को समाप्त करने की दृष्टि से, अनेक संशोधनों का सुझाव दिया गया है। विधि आयोग

की ऐसी रिपोर्टें भी प्रस्तुत की गई हैं जिनमें दंड प्रक्रिया संहिता के कतिपय उपबंधों में कुछ संशोधन करने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। किसी कानून में आवश्यक संशोधनों का सुझाव देने की यह प्रक्रिया निरंतर और अपरिहार्य है। इन ही में आयोग का ध्यान इस ओर गया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के कुछ अन्य उपबंध जोर भी हैं जिनमें संशोधन कानूनों में तदन्तर संशोधनों की पृष्ठभूमि में संशोधन करने की आवश्यकता है। ऐसे संशोधनों पर विचार करने के कार्य को तब तक स्थगित ^{रखा} जब तक कि उनको संव्याकरण नहीं हो जाती या जब तक कि प्रशासनिक कानून में व्यापक संशोधन करने के प्रश्न पर विचार नहीं हो जाता, कोई तत्व नहीं है। इस कारण से आयोग ने इस रिपोर्ट को स्वतः प्रस्तुत करना आवश्यक समझा है यद्यपि यह सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के केवल दो उपबंधों तक सीमित है।

— x —

इस रिपोर्ट की पृष्ठभूमि

- 2.1 सिविल प्रक्रिया संहिता § 1908 का अधिनियम 5 § § जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है § 1908 में अधिनियम की गई थी। परिणामस्वरूप, जहाँ इसके उपबंधों का विषय परिसीमा काल की कुछ बातें थी वहाँ भारतीय परिसीमा अधिनियम § 1877 का 15 § § जिसे इसमें इसके पश्चात् "1877 का अधिनियम" कहा गया है § के सुसंगत उपबंधों के प्रति निर्देश किया गया था। तथापि, वर्ष 1877 के अधिनियम के स्थान पर भारतीय परिसीमा अधिनियम § 1908 का 9 § § जिसे इसमें इसके पश्चात् "1908 का अधिनियम" कहा गया है; लाया गया और उसके पश्चात् उसके स्थान पर परिसीमा अधिनियम § 1963 का 26 § § जिसे इसमें इसके पश्चात् "1963 का अधिनियम" कहा गया है § लाया गया और संहिता में भी 1976 के अधिनियम 104 द्वारा व्यापक संशोधन किए गए, संहिता में भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1877 के प्रति निर्देश ज्यों के त्यों रहे आए। अपने आप में यह बात बहुत महत्वपूर्ण नहीं है-सवाय इसके कि इतने समय पूर्व निरसित कानून के प्रति निर्देशों को 1976 में लाए गए अनेक संशोधनों के साथ सुधार किया जाना चाहिए था- जैसा कि ऐसी स्थितियों के लिए साधारण खंड अधिनियम की धारा 8 में उपबंध किया गया है। तथापि, संहिता में भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1877 के प्रति निर्देश केवल दो स्थानों पर है। अब यह प्रतीत होता है कि पश्चात्वर्ती कानून के प्रकाश में इन उपबंधों में संशोधन अपेक्षित है जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है।
- 2.2 संहिता के एक अन्य उपबन्ध में § आदेश 21, नियम § 92 § 2 § § 1877 के अधिनियम में विहित परिसीमा की अवीधि में आधार पर समय की परिसीमा विहित की गई थी। परिसीमा अधिनियम, 1963 द्वारा 1877 के अधिनियम में संशोधन किया गया था, किन्तु संहिता के विहित अवीधि में कोई पारिभाषिक संशोधन करने पर कोई ध्यान नहीं दिया था। इससे एक विसंगति पैदा हो गयी और संहिता के आदेश 21 के नियम 92 § 2 § में संशोधन करने की आवश्यकता 1963 के अधिनियम के प्रकाश में उत्पन्न हो गई। इस विषय को आयोग ने अपनी 140 वीं रिपोर्ट में रखा था।
- 2.3 तथापि ऊपर पैरा 2.1 में उल्लिखित दोनों विसंगतियाँ रह गयी हैं। आयोग की राय है कि इन विसंगतियों को बने नहीं रहने दिया जाना चाहिए और आयोग की 139 वीं, 140 वीं और 141 वीं रिपोर्ट के संदर्भ में जो भी कार्यवाही की जाये उसके साथ इन उपबंधों में संशोधन करने की कार्यवाही भी की जानी चाहिए। इसी की भावना यह रिपोर्ट है।

अध्याय - 3

आदेश 1 नियम 10 § 5 §

3-1 1877 के अधिनियमों का पहला उल्लेख संहिता के आदेश 1, नियम 10 में हुआ है। संहिता के आदेश 1 की विषयवस्तु "वादों के पक्षकार" है और उसके नियम 10 में कतिपय ऐसी स्थितियों का वर्णन किया गया है जिनमें पहले ही दखिल किए गए किसी वाद में नये पक्षकार जोड़ने या प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता पैदा होती है। यह नियम निम्नलिखित रूप में है।

10 § 1 § जहाँ कोई वाद वादी के रूप में गलत व्यक्ति के नाम से सीधित किया गया है, या जहाँ यह संदेहपूर्ण है कि क्या वह सही वादी के नाम में सीधित किया गया है वहाँ यदि वाद के किसी भी प्रक्रम में न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वाद सद्भाविक भूल से सीधित किया गया है और विवाद में के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए ऐसा करना आवश्यक है तो, वह ऐसे निबन्धनों पर, जो वह न्यायसंगत समझे, वाद के किसी भी प्रक्रम में किसी अन्य व्यक्ति को वादी के रूप में प्रतिस्थापित किए जाने या जोड़े जाने का आदेश दे सकेगा।

§ 2 § न्यायालय कार्यवाहियों के किसी भी प्रक्रम में या तो दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबन्धनों पर जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हों, यह आदेश दे सकेगा कि वादी के रूप में या प्रतिवादी के रूप अनुचित तौर पर संयोजित किसी भी पक्षकार का नाम काट दिया जाए और किसी व्यक्ति का नाम जिसे वादी या प्रतिवादी के रूप में ऐसे संयोजित किया जाना चाहिए था या न्यायालय के सामने जिसकी उपस्थिति वाद में अन्तर्विलित सभी प्रश्नों का प्रभावी तौर पर और पूरी तरह न्यायनिर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने की दृष्टि से आवश्यक हो, जोड़ दिया जाए।

§ 3 § कोई भी व्यक्ति, वाद-निर्णय के बिना वाद लाने वाली वादी के रूप में अथवा उस वादी के, जो किसी नियोज्यता के अधीन है, वाद-निर्णय के रूप में उसकी सहमति के बिना नहीं जोड़ा जाएगा।

3-1 जहाँ कोई प्रतिवादी जोड़ा जाता है वहाँ जब तक न्यायालय न्यायवादी नियम न करे वादपत्र का इस प्रकार संशोधन किया जाएगा, जैसा आवश्यक हो, और समन की और वादपत्र की संशोधित प्रतियों की तामील नए प्रतिवादा पर, और यदि न्यायालय ठीक समझे तो मूल प्रतिवादी पर का जाएगा।

3-2 इंडियन लिमिटेशन ऐक्ट, 1877 के 15 के धारा 22 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, प्रतिवादी के रूप में जोड़े गए व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही केवल 1908 की तामील पर आरंभ की जा सकती है।

उपरोक्त नियम 5 का स्पष्ट रूप से यह आशय है कि जहाँ किसी नये पक्षकार को वाद में, प्रतिवादी के रूप में जोड़ने का आदेश दिया जाए वहाँ ऐसे पक्षकार को उस तारीख से पक्षकार बना माना जाना चाहिए जिस तारीख को वाद के समन उस पर तामील किए जाते हैं यह परिष्करण मुख्य रूप से भले ही आत्यंतिक रूप से नहीं, पारसीभा के उस अभिवाक् की सुरक्षा रखने के लिए सृजित की गई है जिसे ऐसा पक्षकार उठा सकता है तथा किसी पर-पक्षकार को इस आधार पर ऐसा अभिवाक् करने में सरकार बनाने के लिए सृजित की गई है कि, जहाँ तक उसका संबंध है, वाद उस तारीख को संशोधित माना जाना चाहिए जिस तारीख को वाद के समन उस पर तामील किए गए हैं।

3-3 तथापि, उक्त नियम में प्रयुक्त भाषा में दो कामयाबी हैं। पहली तो यह कि इस उप नियम में यह कहा गया है कि जहाँ तक ऐसे पक्षकार का संबंध है "कार्यवाही समन की तामील होने पर आरंभ समझा जाएगा, बजाय इसके कि इन शब्दों का प्रयोग किया जाता कि "वाद" ऐसी तामील होने पर ही "संशोधित किया गया समझा जाएगा।" ये शब्द किसी पर-पक्षकार को पारसीभा का अभिवाक् करने की बाबत पर्याप्त सुरक्षा प्रदान नहीं करता जो कि वादपत्र को "संशोधित करने की तारीख" न कि प्रतिवादी के विरुद्ध "कार्यवाही आरंभ समझी जाएगी" की तारीख पर आधारित होना है। ये शब्द, जहाँ तक कि नये रूप से जोड़े गए प्रतिवादी का संबंध है, वाद को संशोधित करने की तारीख में परिवर्तन करने के लिए पूरी तरह प्रभावी नहीं हैं।

3-4 दूसरी बात यह है कि यह भाषा पारसीभा अधिनियम के संशोधित उपबंधों, अर्थात्, 1877 के अधिनियम 1 जो कि उस समय लागू था जब संशोधित अधिनियम की गई थी, की धारा 22 और 1908 के अधिनियम, इसके द्वारा वह प्रतिस्थापित किया गया था, कुछ हद तक प्रांतकूल है। ये उपबंध नान्वक रूप से समान थे और निम्नलिखित रूप में थे।

"धारा 22 § 1 § जहाँ, वाद सीस्थित हो जाने के बाद, कोई नया वादी या प्रतिवादी प्रतिस्थापित किया जाता है या जोड़ा जाता है वहाँ वाद, जहाँ तक कि उसका संबंध है, तब तक सीस्थित किया गया समझा जाएगा जब उसे पक्षकार बनाया गया था।"

इस उपबंध का प्रभाव, नये जोड़े गए प्रतिवादी की बाबत, वाद को सीस्थित करने की तारीख को उस तारीख के लिए स्थगित करना था जिससे उसको पक्षकार बनाया गया था और इस प्रकार उसे परिसीमा के उचित अभिवाक् को उठाने के उसके अधिकार को सुरक्षित करना था। नियम 10 के उप नियम 5 का स्पष्ट आशय इस तारीख को और वाद तक स्थगित करने का था और इस प्रकार ऐसे मामलों में धारा 22 के प्रभाव को परिवर्तित करने का था और मुख्य रूप से यह उपबंध करने का था कि ऐसा वाद ऐसे पक्षकार की बाबत उस पर समन तामील की तारीख सीस्थित किया गया माना जाएगा और परिसीमा के उपबंध इस प्रकार से उपान्तीरत रूप में लागू होंगे।

3-5 नियम 10 के उप नियम § 2 § की भाषा के अनुसार उस उप नियम के अधीन प्रतिवादी के रूप में जोड़ा गया व्यक्ति या तो वह होगा जिसे प्रारम्भ में ही प्रतिवादी के रूप में जोड़ा जाना चाहिए था, अथवा वह होगा जिसकी कि न्यायालय के समक्ष उपस्थिति वाद के सभी प्रश्नों के पूर्ण और प्रभावी रूप से अधिनिर्णय के लिए आवश्यक समझी जाती है। मूल रूप से वाद में प्रतिवादी रूप में उसे जोड़ने की भूल चाहे वादी की ओर से गलती के कारण हो जिसे वादी के आवेदन पर अथवा न्यायालय की ओर से ही ठीक करने का निवेदन किया जाता है अथवा उसे जोड़ने की आवश्यकता वादी को या न्यायालय को प्रतीत होती है और वह ऐसा करने के लिए अग्रसर होते हैं, दोनों ही स्थितियों में नये रूप में जोड़ा गया प्रतिवादी उसके विरुद्ध वाद § अथवा कार्यवाही § सीस्थित करने में विलंब के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता और, अतः उसे वाद को सीस्थित करने की मूल तारीख और उस तारीख के बीच जिसको कि पक्षकार के रूप में जोड़ा गया है, विलंब के परिणामस्वरूप उसे उपलब्ध परिसीमा के किसी अभिवाक् से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। 1877 और 1908 के अधिनियमों की धारा 22 § 1 § का यही उद्देश्य था और सीइता के आदेश 1 के नियम 10 § 5 § का उद्देश्य था कि इस फस्यदे को और अधिक उदार बनाया जाना चाहिए तथा वह उस तारीख तक उपलब्ध रहना चाहिए जिस तारीख को नये रूप से जोड़े गये प्रतिवादी के रूप में पक्षकार को जोड़े जाने के पश्चात् समन प्राप्त करता है। लेकिन ऐसी स्थिति में उप नियम निम्नीनीवित रूप में होना चाहिए था:

" भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1877 में अंतर्बिष्ट किसी उपबंध के होते हुए भी, अधिनियम §2§ के अधीन प्रतिवादी के रूप में जोड़े गए व्यक्ति का जहां तक संबंध है, वाद केवल उस तारीख को संस्थित किया गया समझा जाएगा जिसको उस पर वाद का सम्मन तामील किया जाता है । "

" भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1877 के उपबंधों के अधीन रहते हुए " शब्द संदर्भ से पूर्णरूपेण असंगत हैं । इन्हीं शब्दों के कारण 1877 के अधिनियम की बात उठती है और क्योंकि उस अधिनियम में पहले ही यह उपबंध है कि यह माना जायेगा कि वाद उस तारीख को आरम्भ हुआ जिसको नया प्रतिवादी जोड़ा जाता है, अतः नियम 10§5§ में आप शब्द उस नियम को धारा 22 के अधीन रहते हुए कट कर कोई नई बात नहीं जोड़ रहे हैं ।

3.6

नियम 10§5§ का प्रयोजन परिसीमा अधिनियम, 1963 के अधिनियमित हो जाने के पश्चात् और भी निरर्थक हो जाता है। 1963 के अधिनियम की धारा 21, 1877 और 1908 के अधिनियमों की धारा 22 की तस्थानी है किन्तु धारा 21 के परंतुक को अतः स्थापित करने के कारण उसका पूरा प्रभाव बदल जाता है । यह धारा इस प्रकार से है:-

" 21. नए वादी या प्रतिवादी को प्रतिस्थापित करने या जोड़ने का प्रभाव:

§1§ वाद संस्थित किए जाने के पश्चात्, जहां कोई नया वादी या प्रतिवादी प्रतिस्थापित किया जाता अथवा जोड़ा जाता है वहां वाद, उसकी वादत, तब संस्थित किया गया समझा जाएगा जब उसे इस प्रकार पक्षकार बनाया गया था ,

परन्तु जहां न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि नए वादी या प्रतिवादी को सम्मिलित करने में लोप सम्भावपूर्वक हुई त्रुटि के कारण था तो न्यायालय निर्देश दे सकता है कि वाद किसी पूर्वतर तारीख को संस्थित किया गया समझा जाएगा । "

3.7

साधारण खण्ड अधिनियम, 1897 की धारा 8 का प्रभाव यह है कि वह नियम 10§5§ में 1877 के अधिनियम की धारा 22 का उल्लेख किए जाने के कारण, जो 1963 के अधिनियम की धारा §12§ के उत्तरवर्ती उपबंध के प्रति निर्देश है पढ़ने वाले को धारा 22 के प्रति निर्देश को पढ़ने के लिए बाध्य करता है ।

1963 के अधिनियम की धारा 21 और सीढता के आदेश 1 के नियम 10१5१ को साथ-साथ पढ़ने पर यह प्रतीत होगा कि वे दोनों दो अलग दिशाओं की तरफ सींचती हैं यद्यपि नियम 10१5१ की धारा 21 के अधीन कहा गया है। धारा 21 का उद्देश्य यह है कि नए प्रतिवादी का जहां तक सम्बन्ध है वाद उस तारीख को फाइल किया गया माना जाये जिसको उसे पक्षकार बनाया गया है। और न्यायालय को यह विवेकाधिकार है कि वह वाद को पूर्वतर फाइल किया गया भी मान सकता है। दूसरी ओर, नियम 10१5१ का प्रयोजन यह है कि वाद उस तारीख को फाइल किया गया माना जाय जिसको नए प्रतिवादी पर सम्मन तामील हुआ है। इस संदर्भ में, नियम 10१5१ की धारा 21 के अधीन करने का कोई अर्थ नहीं है, उसके उपबंध, परिसीमा अधिनियम में किसी बात के होतेहुए भी, प्रवृत्त होने चाहिए, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है।

108

अतः वास्तविक प्रश्न यह उठता है कि सम्मन की तामील की तारीख को ही वह तारीख मान कर जिसको नए प्रतिवादी के विरुद्ध कार्यवाही प्रारम्भ हुई समझी जायेगी " नियम 10१5१ में जिस परिष्कार का प्रयास किया गया है वह करने योग्य है भी या नहीं और क्या नियम 10१5१ का पूरी तरह लोप कर देना और 1963 के अधिनियम की धारा 21 के उपबंधों को बिना किसी परिवर्तन के प्रवृत्त रखना अधिक सहज और साम्यापूर्ण नहीं होगा क्योंकि ये उपबंध लगभग उसी स्थिति का समाधान करने के लिए हैं जिसके लिए आदेश 1 के नियम 10 में उपबंध किया गया है। हम समझते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक ही होना चाहिए। निःसन्देह न्याय और साम्या के हित में यह अपेक्षित है कि किसी पर-पक्षकार पर, वाद में उसे पहले ही पक्षकार बनाने में चूक, लोप अथवा उपेक्षा के परिणाम स्वरूप उपलब्ध परिसीमा के अभाव को प्रस्तुत करने पर प्रातिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। यह उपलब्ध करना, जैसा कि 1963 के अधिनियम की धारा 21 में किया गया है, पूर्णतया उचित होगा कि ऐसे मामलों में, जहां तक कि नये जोड़े गए प्रतिवादी का सम्बन्ध है, वाद को सीस्थित करने की तारीख ही वह तारीख होगी जिसको उसे पक्षकार के रूप में जोड़ा जाता है। इस नियम को सिधिल करने के लिए न्यायालय को सशक्त करने वाला परन्तु भी सद्भाविक वादी की सुरक्षा के लिये आवश्यक उपाय है। दूसरी ओर, नियम 10१5१ के उपबंध संस्थापन की तारीख को ही वह तारीख मानते हैं जिसको नये जोड़े गये पक्षकार पर सम्मन तामील होता है। इस प्रकार दोनों उपबंधों में असंगत है। 1963 के अधिनियम की धारा 21 के अधीन, नये जोड़े गए प्रतिवादी के विरुद्ध वाद उस तारीख को

संस्थित किया गया नहीं समझा जायेगा जिसको उसे प्रक्षकार के रूप में जोड़ा गया है बल्कि उस पश्चात्पूर्ती तारीख से जिसको उस पर सम्मन तामील होता है । यह सम्मन है क्योंकि सिद्धान्ततः परिसीमा काल की संगणना उस समय के सम्मन में की जानी चाहए जब वादी ने प्रश्नगत प्रतिवादी के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करने के लिए कदम उठाया हो और यह किसी पश्चात्पूर्ती घटना पर निर्भर नहीं होनी चाहए । वाद को संस्थित करने की तारीख को 1963 के अधिनियम की धारा 21 में उपरबन्धित की गई तारीख से आगे स्थगित करने की कोई आवश्यकता नहीं है । नियम 10(5) का उपबन्ध असाभ्यापूर्ण ही है और उसका दुष्प्रयोग कार्यवाही में देर करने के लिए किया जा सकता है क्योंकि इसके कारण पर-प्रक्षकार सम्मन की उन पर तामील होने से तब तक इचने के लिये, जब तक कि परिसीमा की अवधि समाप्त नहीं हो जाती, हर तरह के तरीके अपनाने में समर्थ हो सकेंगे ।

3.9

उपरबन्धित कारणों से यह स्पष्ट है कि नियम 10(5) की कोई आवश्यकता नहीं रही है । अतः यह सिफारिश की जाती है कि सिविल प्रक्रिया सौहता, 1908 के आदेश 1 के नियम 10 के उपनियम (5) का लोप कर दिया जाये ।

अध्याय 4

आदेश 22, नियम 9१3१

4.1

आदेश 22 उस कार्यवाही के सम्बन्ध में है जो वाद संस्थित करने के पश्चात् पक्षकारों की मृत्यु, विवाह और दिवालियापन हो जाने की दशा में करनी होती है। यहां हमारा सम्बन्ध केवल किसी वाद में वादी की मृत्यु के मामले से है। नियम 1 से 6 तक में यह उपबंध है कि किसी पक्षकार की मृत्यु के कारण वाद उपशमन नहीं होगा यदि वाद लाने का अधिकार बना रहता है तथा उस वाद को मृत पक्षकार के विधिक प्रतिनिधियों द्वारा जारी रखने की अनुमति दी जा सकेगी यदि वे मृत पक्षकार के स्थान पर वाद में प्रतिस्थापित करने के लिए आवेदन करते हैं। तथापि नियम 3१2१ यह उपबंध करता है कि यदि मृत वादी के विधिक प्रतिनिधि अभिलेख पर आने के लिए उसके लिए विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर, जो कि मृत्यु की तारीख से 90 दिन है, ऐसा आवेदन करने में असफल रहते हैं तो वाद का उपशमन हो जायेगा।

4.2

नियम 9 इस स्थिति से बचने के लिए एक रास्ता प्रदान करता है। यह नियम निम्नीलिखित रूप में है १ जहां तक कि वह हमारे प्रयोजन के लिये सुसंगत है १

" 9१1१

जहां वाद का इस आदेश के अधीन उपशमन हो जाता है या वह खारिज किया जाता है वहां कोई भी नया वाद, उसी वाद हेतुक पर नहीं लाया जाएगा।

(2)

वादी या मृत वादी के विधिक प्रतिनिधि होने का दावा करने वाला व्यक्ति या दिवालिया वादी की दशा में उसका समनुदेशी या रिसेवर, उपशमन या खारिजी अपास्त करने वाले आदेश के लिए आवेदन कर दिया जाता है कि वाद चालू रखने से वह किसी पर्याप्त हेतुक से निवारित रहा था तो न्यायालय स्वयं के बारे में ऐसे निबन्धनों पर या अन्यथा, जो वह ठीक समझे, उपशमन या खारिजी अपास्त करेगा।

(3)

इण्डियन लिमिटेशन ऐक्ट, 1877 १1877 का 15१ १ की धारा 5 के उपबन्ध उपनियम १2१ के अधीन आवेदनों को लागू होंगे। "

4.3

नियम स्पष्ट और भ्रमरहित है । उपशमन को अतिष्ठत करने का आवेदन उपशमन की तारीख से 60 दिन की अवधि के भीतर फाइल करना होता है: §1877 और 1908 के अधिनियमों की अनुसूची का अनुच्छेद 121 । तथापि इस कठन नियम का शिथिलीकरण आवश्यक था क्योंकि ऐसी परिस्थितियां हो सकती थीं जिनमें समय के भीतर ऐसा आवेदन न किया जा सके । भारतीय परिसीमा अधिनियम, 1877 की धारा 5द न्यायालय को सशक्त करती है कि वह पर्याप्त कारण दर्शाने पर । निर्णय के पुनरीक्षण के लिये, कोई अपील या आवेदन या ऐसा कोई आवेदन, जिसे यह धारा, जैसी कि वह तत्समय प्रवृत्त हो, लागू होती है " फाइल करने में विलम्ब को माफ कर सकेगा और उसे विहित अवधि के पश्चात् ग्रहण कर सकेगा । रेखांकित शब्दों को ध्यान में रखते हुए उपधारा §3§ जोड़ने की आवश्यकता हुई जिसके द्वारा 1877 के अधिनियम की धारा 5 के उपबंधों को संहिता के आदेश 22, नियम 9§2§ के अधीन किये जाने वाले आवेदनों को विनिर्दिष्ट रूप से लागू किया गया ।

4.4

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, 1877 के अधिनियम के स्थान पर पहले 1908 का अधिनियम लाया गया और पुनः उसके स्थान पर 1963 का अधिनियम लाया गया । तथापि 1908 के अधिनियम की धारा 5 में तार्त्विक रूप से 1877 के अधिनियम की धारा 5 की भाषा को ही दुहराया गया है, 1963 के अधिनियम की तत्सम्बन्धी धारा 5, जिसे साधारण खंड अधिनियम की धारा 8 के कारण संहिता के आदेश 22 के नियम 9§3§ में पढ़ना होता है, एक भिन्न भाषा में है, यह निम्नीलिखित रूपमें है §जहां तक कि वह सुसंगत है) :

" 5. कुछ दशाओं में विहित अवधि का विस्तार:

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21 के किसी उपबंध के अधीन आवेदन से भिन्न कोई अपील या आवेदन विहित अवधि के पश्चात् ग्रहण किया जा सकेगा यदि अपीलार्थी या आवेदक न्यायालय को यह समाधान कर देता है कि ऐसी अपील या आवेदन समय के भीतर प्रस्तुत न करने के लिए उसके पास पर्याप्त कारण था ।"

भाषा में जो परिवर्तन है वह महत्वपूर्ण है । 1963 के अधिनियम की धारा 5 के अधीन विलम्ब को माफ करने की शक्ति संहिता के अधीन न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये सभी आवेदनों के सम्बन्धमें § उसमें उल्लिखित एक अपवाद को छोड़ कर; स्वतः उपलब्ध हो गई है और ऐसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए इस बात की आवश्यकता नहीं है कि धारा 5 के उपबंधों को सुसंगत कानून में तलाश किया जाये ।

4.5 अतः आदेश 22 के नियम 9 के उपांनयम :3: की आवश्यकता नहीं रह जाती है । यह सच है कि अब उसकी विद्यमानता निरर्थक है । तथापि, इस दृष्टि से कि सौहता के अधीन प्रस्तुत किये जा सकने वाले आवेदनों के असंख्य प्रवर्गों में से केवल एक की बावत ऐसा विनिर्दिष्ट उपबंध कोई विसर्गात या आशंका उत्पन्न न कर दे और उसकी स्पष्ट निरर्थकता की दृष्टि से, यह उचित है कि सौहता के आदेश 22 के नियम 9 के उपांनयम §3: का लोप कर दिया जाये । अतः हम तदनुसार सिफारिश करते हैं ।

अध्याय 5

सिफारिशें

5.1 ऊपर जिन कारणों की चर्चा की गई है उनके आधार पर हम सिफारिश करते हैं कि सिविल प्रक्रिया सौहता § 1908 का अधीनयम 5: में निम्नलिखित संशोधन किये जायें :-

§क) सौहता के आदेश 1 के नियम 10 के उपांनयम :5: का लोप किया जाये ,

§ख) सौहता के आदेश 22 के नियम 9 के उपांनयम :3: का लोप किया जाये ।

5.1 हम अपनी 139 वीं और 140 वीं रिपोर्टों में सौहता के आदेश 5, नियम 19क और आदेश 21, नियम 92 §2: में संशोधन करने की बावत की गई सिफारिशों का भी पुनः समर्थन करते हैं ।

§एस. रंगनाथन§

सदस्य

§पी.एम. बक्शी§

सदस्य

§ के एन सिंह §

अध्यक्ष

§च. प्रभाकर रावः

सदस्य-सांचव

§ डी.एन. मंदाशिव §

सदस्य

§एम मार्ज्यः

सदस्य

घाद टिप्पण

- 1 तथा दंड प्रक्रिया संहिता के विषय में भी ।
- 2 आयोग की 48 वीं, 102 वीं, 113 वीं, 132 वीं, 141 वीं और 142 वीं रिपोर्टों में इसी प्रकार से अलग-अलग संशोधनों के सुझाव दंड प्रक्रिया संहिता में बृहत्त रूप से परिवर्तन करने की सिफारिशों के पूरक के रूप में दिए गए थे जिनके आधार पर दंड प्रक्रिया विधि को 1973 में संहिताबद्ध किया गया था ।
- 3 दक्षिण: 1877 के अधिनियम की अनुसूची का अनुच्छेद 175 क, 1908 के अधिनियम की अनुसूची का अनुच्छेद 176 और 1963 के अधिनियम की अनुसूची का अनुच्छेद 120 ।